**1956C Shanti Sagar Ji and Nami Sagar Ji**

*Acharya Dvyay Ka Sanyas and Smarak* (In Anekant, November 1956)

# आचार्यद्वयका संन्यास और उनका स्मारक

(श्री पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री)

## संन्यासका स्वरूप

जब कोई साधक श्रावक या मुनि अपने जीवनके अंतिम समयमें यह अनुभव करता है कि मेरी इन्द्रियां दिन-पर-दिन शिथिल होती जा रही हैं और यह शरीर अब धर्मका साधक न होकर बाधक होरहा है, तब उसे शास्त्रोंमें सन्यास-ग्रहण करनेका विधान किया गया है। यह संन्यास-धारण करनेका उत्सर्गमार्ग है। किन्तु यदि शरीर पुष्ट भी हो, इन्द्रियां बराबर अपना कार्य कर रही हों, फिर भी यदि कदाचित् कोई ऐसा उपसर्ग आजाय, जिसके कि दूर होनेकी सम्भावना ही न रहे, कोई ऐसा ही रोग शरीरमें उत्पन्न हो जाय, कि जिसका इलाज सम्भव न रहे, भयानक दुर्भिक्ष आपड़े, अथवा इसी प्रकारका कोई अन्य कारण आ उपस्थित हो, जिससे कि धर्म-साधनमें बाधा उत्पन्न हो जाय तो भी संन्यास-ग्रहण करनेकी आज्ञा शास्त्रकारोंने दी है। यह संन्यास ग्रहण करनेका अपवाद मार्ग है। उत्सर्गमार्गमें यावज्जीवनके लिये संन्यास धारण करनेका और अपवाद मार्गमें कालकी मर्यादाके साथ संन्यास-धारण करनेका विधान किया गया है। यतः संन्यासका अन्तिम लक्ष्य समाधिपूर्वक शरीरका त्याग करना है, अतः इसे समाधिमरण भी कहते हैं। तथा संन्यास-ग्रहण करनेके अनन्तर शरीर-त्याग करनेके अन्तिम क्षण तक साधक अपने काय और कषायोंको कम-क्रमसे कृश करता रहता है, अतएव इसे सल्लेखना भी कहते हैं। 'संन्यास' शब्दका अर्थ है—बाहिरी शरीर-इन्द्रियादिककी क्रियाओं और प्रवृत्तियोंको रोक कर, तथा मनके संकल्प-विकल्पोंको रोककर अपने आत्मस्वभावमें अपने आपको स्थापित करना। पंडितप्रवर आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतके आठवें अध्यायमें संन्यासका लक्षण बहुत ही सुन्दर रूपसे दिया है—

संन्यासो निश्चयेनोक्तः स हि निश्चयवादिभिः।
यः स्व-स्वभावे विन्यासो निर्विकल्पस्य योगिनः ॥६३॥

जब योगी बाहिरी संसारसे सम्बन्ध तोड़कर तथा इन्द्रिय और मनके शुभाशुभ विषयोंसे भी मुख मोड़कर, सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित हो आत्म-स्वभावमें स्थिर होता है, तब उसे तत्त्वके निश्चय करनेवाले महर्षियोंने 'संन्यास' कहा है।

## संन्यासकी उपयोगिता

आत्म-हितका साधन करनेवाला श्रावक या साधु निरन्तर आत्माके हित-साधन करनेमें ही उद्यत रहता है। वह शरीरकी उतनी ही सम्भाल करता है, जितनी कि धर्म-साधनके लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। वह कुशल व्यापारीके समान सदा इस बातका ध्यान रखता है कि व्यय कम हो और आय अधिक हो। यही कारण है कि साधक शरीरकी सम्भाल करनेके लिए उत्तरोत्तर उदासीन और आत्म-सम्भालके लिए उत्तरोत्तर जागरूक रहता है। साधारणतः संन्यासग्रहण करनेका मार्ग वृद्धावस्थामें जीवनके सन्ध्याकालमें बतलाया गया है। यह वह समय है, जब जीवके आगामी भव-सम्बन्धी आयुका बन्ध होता है और भावी जीवनका निर्माण होता है। अतएव जीवनकी अन्तिम वेलामें यह उपदेश दिया गया है कि वह अन्य सब ऐहिक-दैहिक कार्योंसे मुख मोड़कर आत्मिक कार्योंके सम्पन्न करनेके लिए सदा सावधान रहे। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनुकूल हैं, तो वह इसी भवसे ही सर्व कर्मोंका क्षयकर अजर-अमर पदको प्राप्त कर सकता है और यदि उक्त द्रव्य-क्षेत्रादि अनुकूल नहीं है तो कम-से-कम वह अपने भविष्यका तो सुन्दर निर्माण कर ही सकता है और यही संन्यास-धारण करनेकी सबसे बड़ी उपयोगिता है।

## संन्यासका फल

संन्यासका साक्षात् या परम्परासे मोक्ष-प्राप्ति बतलाया गया है। जो उत्कृष्ट संहननके धारक हैं और जिनके सर्व-सामग्री अनुकूल है, वे जीव तो संन्यासके द्वारा इसी भवसे मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु जो हीन संहननके धारक हैं और जिनके अन्य सामग्री अनुकूल नहीं है, वे भी यदि एक बार भी सम्यक् प्रकारसे संन्यासको धारण करके समाधिपूर्वक शरीरका त्याग करते हैं, तो वेसी सात-आठ भवमें संसार-सागरके पार उतर जाते हैं, इससे अधिक समय उन्हें संसारमें वास नहीं करना पड़ता है। संन्यास-धारक जीव अपनी आत्माका ध्यान करता हुआ प्रतिक्षण पूर्व संचित प्रचुर कर्मोंकी निर्जरा करता रहता है। यही कारण है कि जो जीव संन्यासके संस्कारोंसे अपनी आत्माको सुसंस्कृत कर लेता है, वह उत्तरोत्तर आत्म-विकास करता हुआ अल्पकालमें ही सर्व

कर्मोंसे विमुक्त होकर सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही संन्यास धारण करनेका सर्वोत्कृष्ट फल है।

## आचार्य शान्तिसागरका संन्यास-ग्रहण

संन्यास-धारण करना श्रावक और साधु दोनोंका परम कर्तव्य माना गया है। जैन शास्त्रोंमें संन्यास धारण करने वाले अगणित व्यक्तियोंके दृष्टान्त भरे पड़े हैं। अनेकों स्थानों पर समाधिमरण करने वालोंके स्मारक और शिलालेख आज भी प्रचुर परिणाममें उपलब्ध हैं। फिर भी इधर कितने ही वर्षोंसे लोग इस अन्तिम परम कर्तव्य को भूलसे रहे थे। उसे स्वीकार करके गत वर्ष चारित्र-चक्रवर्ती आ० शान्तिसागरजीने जैन जगत् ही नहीं, सारे संसारके सामने एक महान् आदर्श उपस्थित किया है। इधर उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दीके भीतर जितने भी साधु हुए हैं, उनमें आ० शान्तिसागरजीने अपनी दीर्घकालीन तपस्या, निर्मल निर्दोष चारित्र और शान्त स्वभावके कारण अपना एक विशेष स्थान जन-मानसके भीतर बनाया है। उनका शरीर पूर्ण रूपसे निरोग था, किन्तु वृद्धावस्थाके साथ-साथ आंखोंकी ज्योति मन्द पड़ती गई और उन्हें अपने धर्मका निर्वाह जब अशक्यसा प्रतीत होने लगा, तब उन्होंने शास्त्रोक्त मार्गका अनुसरण कर संन्यासको धारण किया और जीवनके अन्तिम क्षण तक पूर्ण सावधान रह कर प्राणोंका उत्सर्ग किया।

आचार्य शान्तिसागरने जीवन भर जैन धर्मका स्वयं पालन करते हुए सारे भारतमें विहार कर उपदेश दिया और लोगोंमें उसका प्रचार किया है। जीवनके अन्तमें उन्होंने जिस संन्यासको धारण किया था उसका आभास उनके अन्तिम दिनोंके प्रवचनोंमें स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। उसकी कुछ झांकी देखिए—

संघपति गेंदनलालजी जव्हेरी बम्बईने जब आचार्य-महाराज-द्वारा सल्लेखना धारण करनेके समाचार सुने और उन्होंने महाराजकी सेवामें उपस्थित होकर प्रार्थना की—'कमसे कम कुछ प्रमुख लोगोंको सूचना देकर पहले यहां बुला लिया जाय, उनसे परामर्श कर लिया जाय और फिर आप सल्लेखनाके सम्बन्धमें निश्चय करें, तो अच्छा होगा।' तब आचार्य महोदयने उत्तर दिया—

"यह तो मैं अपने आत्मकल्याणके लिए कर रहा हूँ। इसमें दूसरोंसे क्या पूछना? जीव अकेले आता है, अपने कियेका फल भोगता है, अपने आत्मोद्धारके साधन आप ही जुटाता है और फिर अकेले ही चला जाता है। न आते समय कोई उसका साथी होता है और न जाते समय। इसलिए उसे औरोंसे परामर्शकी क्या आवश्यकता है?"

पुनः संघपतिने जब निवेदन किया—महाराज, आपके दर्शनसे भक्तोंका उद्धार होगा न? भक्तोंके कल्याणका आप सदैव ध्यान रखते हैं। अब भी उनको आत्म-कल्याणका अवसर देना चाहिये न?

आचार्यश्रीने उत्तर दिया—"जिनका जैसा भाग्य होगा, आत्म-कल्याणका अवसर उनका उस रूपमें अवश्य प्राप्त होगा ही। दूसरोंके कार्योंका निर्धारण मैं स्वयं थोड़े ही कर सकता हूँ। मुझे तो अपने ही ऊपर अधिकार है, अपने ही कर्मोंके लिए मैं उत्तरदायी हूँ। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि सल्लेखना धारण करनेका उचित समय अब आ गया है। अन्तरात्माके सामने मैं और किसी बातको कैसे महत्त्व दे सकता हूँ?"

xxx "मेरी दृष्टि क्षीण हो गई है, इस कारण प्राणि-संयम रखनेमें मुझे कठिनाई होगी। अतः अब सल्लेखना धारण करना मेरा कर्तव्य है।"

"दिगम्बर जैन यतियोंके लिए धर्म ही मातृ-समान है। वही उनका जीवन-सर्वस्व है। यदि शारीरिक शिथिलताके कारण धर्मके पालनमें बाधा होनेकी आशंका हो, तो वह प्रसन्नता पूर्वक प्रायोपवेश करके आत्म-चिन्तनमें लीन हो जाते हैं और शरीरको उसी प्रकार त्याग देते हैं जैसे जीर्ण-शीर्ण कंथाको लौकिक जन। जैन साधुओंकी दृष्टिमें शरीरकी उपयोगिता धर्म पालनके साधनके रूपमें ही है। जिस क्षण शरीरकी यह क्षमता नष्ट हो जाती है, उसी क्षण उसकी उपयोगिता भी नहीं रह जाती और दि० जैन साधु बिना किसी मोहके उसे विसर्जित कर देते हैं। इसी कारण उनके समाधिमरणको वीरमरण कहते हैं।"

आ० शान्तिसागरके सल्लेखना ग्रहण करनेके अनन्तर जो थोड़ेसे उनके प्रवचन हुए उनके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"मनुष्यको सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। उदास और निराश होना ठीक नहीं। प्रयास करते रहनेसे सफलता अवश्य मिलती है। लकड़ीको लकड़ीके साथ घिसते रहने पर अग्नि अवश्य प्रकट होती है, उसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर आत्म-लाभ अवश्य होता है।"

"अपनेको घटिया समझना ठीक नहीं। केवलीके समान अनन्त शक्ति प्रत्येकमें विकसित हो सकती है, इस सत्य पर

विश्वास रखो। सभी जीवोंको सिद्ध सरीखा (भविष्यमें सिद्ध बननेकी सामर्थ्य रखने वाला) समझो। किसीका तिरस्कार नहीं करना चाहिये।"

ता० ८-६-५५ को आचार्य महाराजके अन्तिम प्रवचनको रिकार्ड किया गया है। उसमें आचार्यश्रीने कितनी ही बातों पर बहुत उत्तम प्रकाश डाला है। जिसमें से यहां पर उनके प्रवचनका एक अंश उद्धृत किया जाता है—

"तर त्याचे मध्ये जिनधर्म हा कोणी जीव धारण करील त्या जीवाचा कल्याण अवश्य होईल। ××× सप्तव्यसनधारी अंजन चोर स्वर्गाला गेलं। हे तर सोड, नीच जातीचा कुत्ता जीवंधरकुमाराच्या उपदेशानं सद्गतीला गेला, इतका महिमा जिनधर्माचा आहे। परन्तु कोण धारण करीत नाहीं। जैन होऊन जिनधर्मावर विश्वास नाहीं।"*

अर्थात् जैन धर्म को जो कोई भी जीव धारण करता है, उस जीवका अवश्य कल्याण होता है। ××× सप्तव्यसनधारी अंजनचोर पहले स्वर्ग गया और पीछे मोक्ष गया। इसे भी छोड़ो, अत्यन्त नीच जातिका कुत्ता भी जीवन्धरकुमारके द्वारा उपदेशको पाकर सद्गतिको प्राप्त हुआ। इतनी महिमा जैनधर्मकी है। (इतनी महिमा जैन धर्म की होने पर भी) कोई इसे धारण नहीं करता। जैन होकर भी उन्हें अपने जिनधर्म पर विश्वास नहीं हैं।"

उक्त प्रवचन के अन्तिम शब्द कितने मार्मिक और उद्बोधक हैं और आचार्य महाराज उनके द्वारा अपना आशय प्रकट कर रहे हैं कि जिनधर्मके माहात्म्यसे, उसके आश्रयसे बड़े-बड़े पापी तिर गये, उनका उद्धार हो गया, तो क्या जैन कुलमें उत्पन्न हुये व्यक्ति का उद्धार नहीं होगा? अवश्य होगा। पर आचार्य महाराज दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहते हैं कि जैनियोंको स्वयं अपने ही धर्म पर विश्वास नहीं है, यह कितने दुःख की बात है। इस एक ही प्रवचन-सूत्रमें कितनी भावनाएँ अन्तर्निहित हैं यह उसके एक-एक अक्षरसे प्रकट हो रहा है। साथ ही आचार्य महाराजकी उस शुद्ध भावनाका भी स्पष्ट आभास मिलता है, जोकि वे जीवन भर अपने उपदेशोंके द्वारा जीवों को सन्मार्गपर लानेके लिए भाते रहे और यथेष्ट सफलता न मिलने पर उनके प्राणिमात्रके उद्धारकी पुनीत भावना से भरे हुये कोमल हृदयको जो ठेस पहुँची, जो अन्तर्वेदना हुई, उसका भी पता उक्त वाक्यके द्वारा सहज में ही लग जाता है। वस्तुतः आचार्य महाराज केवल शान्तिसागर ही नहीं थे अपितु वे करुणाके आकर और विश्वमैत्रीके भण्डार भी थे।

आचार्यश्रीके स्वर्गारोहणके पश्चात् सारे भारतवर्षमें शोक-सभाएँ की गईं और उन्हें श्रद्धाञ्जलियां समर्पित की गईं। अनेक स्थानों पर उनके स्मारक बनाने की भी बड़ी-बड़ी बातें उठीं। पर उनमेंसे कौन बात मूर्तरूप धारण करेगी, यह भविष्य ही बतलायगा। मेरी रायमें बड़े स्मारकके रूपमें जो भी किया जावे, सो तो ठीक है ही। पर कम-से-कम उनके संन्यास-धारण करनेके परम आदर्शको स्थायी रखने और संन्यासकी परम्पराको जारी रखनेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि भारत के मध्य एक और उसके चारों ओर चार इस प्रकार पांच संन्यास-भवनोंका अवश्य निर्माण कराया जावे। जहां जाकर समाधिमरणके इच्छुक श्रावक या साधु अपने जीवनके अन्तिम क्षणोंको पूर्ण निराकुलता-पूर्वक धर्माराधनमें व्यतीत कर आत्म-कल्याण कर सकें। इसके लिए कुछ उपयोगी सुझाव इस प्रकार हैं—

१—जन-कोलाहल से दूर किसी एकान्त, शान्त, तीर्थ क्षेत्र या इसी प्रकार के उत्तम स्थानका चुनाव किया जाय, जहां पर संन्यासको धारण करनेका इच्छुक श्रावक या साधु रह कर समाधिपूर्वक देह उत्सर्ग कर सके।

२—संन्यास-भवनकी दीवालों पर चारों ओर घोरातिघोर उपसर्ग और परीषहोंको सहन करके आत्मार्थ सिद्ध करने वाले साधुओंके सजीव चित्र रहें जिन्हें देखकर समाधिमरण करनेवाला अपने परिणामोंको स्थिर रख सके।

३—उक्त चित्रोंके नीचे समाधिमरण पाठके छंद, वैराग्यवर्धक श्लोक आदि लिखे जावें। तीर्थंकरोंके पांचों कल्याणकोंके भी दृश्य अंकित किये जावें। भवनकी छतपर या किसी एक ओर की दीवालपर समवसरणमें धर्मोपदेश देते हुए तीर्थंकर भगवान्का जीता जागता चित्रण किया जाय।

४—उक्त संन्यास-भवनके समीप ही कुछ दूरी पर परिचर्या करनेवालोंके रहने आदिके लिए कमरे आदि बनाये जावें और इनकी व्यवस्थाका भार उक्त क्षेत्रके समीप रहने वाली जैन पंचायतके आधीन किया जावे।

* जैन गजटके श्रद्धाञ्जलि-विशेषाङ्कसे साभार उद्धृत।
—लेखक

१—मेरे ख्यालसे स्थानोंका चुनाव इस प्रकार किया जावे—पूर्वमें ईसरी, दक्षिणमें कुंथलगिरि, पश्चिममें सोनगढ़, उत्तरमें हस्तिनापुर और मध्यमें इन्दौर, सिद्धवरकूट या बड़वानी।

मेरी रायसे इन संन्यास-भवनोंका नाम 'आ० शान्ति-सागर-संन्यास-भवन' रखा जावे। यह कार्य उनके द्वारा उपस्थित किये गये आदर्शके अनुरूप और भावी पीढ़ीको इस मार्गपर चलानेके लिए प्रेरक होनेके कारण सर्वोत्तम स्मारक सिद्ध होगा।

अथवा जहां पर जैनी अधिक संख्यामें आबाद हैं, ऐसे पांच शहरोंमें नगरके बाहिर नसिया आदि स्थानोंमें उक्त संन्यास-भवन निर्माण किये जावें। वर्तमानकी व्यवस्थाको देखते हुए सोलापुर, बम्बई, अहमदाबाद जयपुर, दिल्ली, इन्दौर, गया और कलकत्ता मेंसे कोई भी पांच नगरोंका चुनाव किया जा सकता है।

संन्यास या समाधिमरणके साधनका उत्कृष्ट काल १२ वर्षका बतलाया गया है। अतः जो संसारसे उदासीन लेकर संन्यास-दीक्षाग्रहण कर आत्म-साधनमें लगना चाहेंगे, वे तो उनमें रहेंगे ही। साथ ही जो भी व्रती पुरुष प्रोषधोपवास व्रतके धारक हैं, वे भी अष्टमी चतुर्दशीके दिनोंमें वहां जाकर समाधिमरणकी अपनी भावनाको दृढ़ संस्कारोंसे सुसंस्कृत कर और भी बलवती बना सकेंगे।

उक्त संन्यास-भवनोंकी सभालका काम उदासीन-आश्रमों और व्रती संस्थाओंके आधीन किया जा सकता है

## आ० नमिसागरका संन्यास-ग्रहण

आ० शान्तिसागरके समाधिपूर्वक देहत्याग करनेके १३ मासके पश्चात् उन्हींके शिष्य परम तपस्वी आ० नमिसागर-जीने ११-१०-२६ को संन्यासग्रहण किया। यद्यपि तपस्यासे आपका शरीर अत्यन्त कृश पहिलेसे ही था, परन्तु पिछले दिनोंमें आपको उदर रोगकी शिकायत होगई थी। जब आपने देखा कि मेरा रोग उपचार किये जाने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जारहा है, तब आपने सर्व प्रकारकी औषधि और अन्नका त्याग करके समाधि-मरणकी तैयारी की और अन्तमें २२-१०-२६ को दिनके १२ बजे पूर्ण सावधानीके साथ देहका उत्सर्ग कर स्वर्ग-धाम पधारे।

आ० नमिसागरजीकी तपस्यासे सर्व लोग परिचित है। आपके महान् त्याग और उग्र तपस्याओंकी सर्वत्र चर्चा है। आपके मुनिजीवनमें ऐसा कोई चातुर्मास याद नहीं आता, जिसमें आपने कोई-न-कोई दुर्धर व्रतका आराधन न किया हो। आप अनेकों बार एक-एक, डेढ़-डेढ़ मास केवल छांछ या नींबूके जलपर रहे हैं, गर्मीके दिनोंमें भी एक-एक मास तक विना पानीके निर्वाह किया है। नमकका त्याग तो आपके २७-२८ वर्षसे था ही, पर बीच-बीचमें अनेकोंवार आपने सर्वरसोंका भी त्यागकर केवल रूखे-सूखे भोजन पर वर्षों तक शरीरका निर्वाह किया है। एक वार आपके रूक्ष आहार करनेसे नेत्रोंकी ज्योति चली गई, तो आपने अन्न-जलका ही परित्याग कर दिया। किन्तु भाग्यवश तपोबलसे सातवें दिन आपको पुनः नेत्र-ज्योति प्राप्त होगई।

आपकी शिक्षा बचपनमें बहुत ही कम हुई थी, किन्तु मुनिजीवनमें आप निरन्तर शास्त्राभ्यास करते रहे, जिसके फलस्वरूप आपका शास्त्रज्ञान बहुत अच्छा हो गया था। प्रारम्भमें आपको हिन्दी बोलनेका बहुत ही कम अभ्यास था। धीरे-धीरे आपने अपनी योग्यता बढ़ाई और अब काफी देर तक हिन्दीमें उत्तम व्याख्यान देने लगे थे। आप एकान्तमें शान्तिके साथ रहना पसन्द करते थे और घण्टों मौनपूर्वक समाधिस्थ रहा करते थे। अन्तिम समयमें आपके भाव तीर्थराज सम्मेदाचलकी यात्रा करके पूज्य चुल्लक गणेश-प्रसादजी वर्णीके समीप रहकर समयसार आदि अध्यात्म-ग्रन्थोंके श्रवण-मननके हुए और आपने तदनुसार तीर्थराजकी बन्दना करके ईसरीमें चतुर्मास किया। अध्यात्म-ग्रन्थोंका श्रवण-मनन और धर्मसाधन करते हुए आपके दिन बहुत अच्छी तरह व्यतीत होरहे थे कि अचानक उदर-व्याधिने विकट रूप धारण कर लिया। जब आपने रोगकी असाध्यताका अनुभव किया, तो संन्यास धारण कर लिया और अन्तमें अपने पूज्य गुरुदेव आ० शान्तिसागर महाराजके समान ही अत्यन्त शान्ति और परम समाधिके साथ शरीरका परित्याग किया।

यद्यपि आपको मौन-पूर्वक स्वाध्याय करना अधिक पसन्द था और इसलिए व्याख्यान बहुत ही कम देते थे। पर जब कभी भी आप व्याख्यान देते, तो उसमें श्रोताओंको अनेक अश्रुत-पूर्व मौलिक बातें सुननेको मिलती थीं। कभी-कभी तो आप किसी खास बातको कहते हुए इतने आत्म-विभोर हो जाते थे, कि आंखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। जैन समाजकी दिन पर दिन गिरती हुई दशाको देखकर आपके हृदयमें जो पीड़ा होती थी, उसकी झांकी कभी-कभी आपके उपदेशोंमें स्पष्ट दिख जाती थी। आप जैन धर्मकी

पवित्रता और शुद्धता रखनेके लिए अपने प्रवचनोंमें बहुत अधिक जोर देते रहे हैं। आपने जहां कहीं भी चतुर्मास किया, आपके प्रवचनोंसे प्रभावित होकर वहांकी समाजने मुक्त हस्तसे दान दिया और उसके फलस्वरूप स्थान-स्थान पर अनेकों पाठशालाएँ और औषधालय आदि खोले गये।

आ० नमिसागरजीका एक चतुर्मास सन् १९५१ में दिल्ली हुआ था। उसी समय आ० सूर्यसागरजी महाराजने भी पहाड़ी धीरज दिल्लीमें चतुर्मास किया था। उस समय धर्मपुरा नया मन्दिरमें दोनों आचार्योंके साथ-साथ अनेक बार उपदेश हुए हैं। जिनमेंसे कितने ही उपदेश अ० भा० केंद्रीय महासमिति दिल्लीके द्वारा संकेत लिपिमें निबद्ध कराये गये थे। इन उपदेशोंकी हिन्दीमें टाइप की हुई प्रतियां मेरे पास सुरक्षित हैं। उन उपदेश-भाषणोंमेंसे कुछ खास-खास अंश यहां उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको आ० नमिसागर-जीकी महत्ता, विद्वत्ता और सूक्ष्म विचारकताका बहुत कुछ परिचय मिलेगा।

## आत्माका शत्रु कौन है ?

"विभावको हमने बुलाया, तो आया। आपसे-आप आया नहीं। मेरा शत्रु कौन है ? अज्ञान मेरा शत्रु, मेरे अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला विभाव मेरा शत्रु है।"

"आप लोग यह जान लो कि पानी हमेशा पानी रहता है, वह कभी गंदला नहीं रहता। पानी हमेशा सफेद रहेगा। पानीको कोई खराब नहीं कर सकता, जब तक कि वह पानी रहेगा। पानी हवा लगनेसे हिलोर लेने लगता है। हवा लगनेसे उछलने लगता है, बस यह कीचड़से मलीन होगया। वह मलीन नहीं, मलीन वह जो उसमें झाग उठते हैं, बुलबुले उठते हैं। इस तरह पानी आपसे-आप मैला होगया। अगर पानी अपनी असली शक्लमें रहता, उसमें झाग नहीं उठते, तो पानीको मैला करनेवाला कौन है ? हवा। हवासे पानीमें झाग उत्पन्न होगये। झाग कहां से आये ? उसके अपने विभावसे झाग उपन्न होगये। हवा लगी तो विभाव हुआ, हवा नहीं लगती, तो विभाव होता नहीं, पानी गंदला होता नहीं। इसी तरह आदमी अपने स्वभावमें स्थिर रहता, तो पानीकी तरह निर्विकार आत्मसात् बना रहता। उसने अपने स्वभावसे अपनेमें रागद्वेष उत्पन्न कर लिये और रागद्वेष रूपी हवासे विभावरूपी झाग उठ खड़े हुये। सरस्वती यहां ही सरस्वती है। अनादिकाल-से आत्माको इन विभावरूपी झागोंसे बचाने, मलीन होनेसे रोकने और ज्ञानकी सच्ची देनका ही नाम सरस्वती है। सरस्वती क्या है ? जो अपना है, उसे अपने पास रखे, दूसरे उसमें हों उन सबको निकाल दे। यहां तक कि राग-द्वेष-रूपी हवाको लगने ही न दे। जब राग-द्वेष मौजूद ही नहीं होंगे तो विभावरूपी झाग उत्पन्न ही नहीं हो सकते। जब बीज ही नहीं रहेगा, तो वृक्ष कहांसे होजायगा ? ××× इस लिए आप इन विभावरूपी राग-द्वेषोंको अपने हृदयसे निकालकर ज्ञानकी सच्ची देन सरस्वतीको स्थिर करो और दूसरोंका त्याग करो।

( ११-१२-५१ के प्रवचनसे )

## सच्चा साधु कौन ?

"×××आप लोग जान लो अंतरंग भेषको जाने बिना बाहिरी भेषमें गुरु नहीं हो सकता। अन्तरंग भेषको जानने वाला ही गुरु हो सकता है।

जब तक आपके (आत्माके) अन्दर माया है, मिथ्या आहार-विहार है, अज्ञान है, मिथ्यात्व है, तब तक संसार है।

जो अपनी अन्तरंग भावनामें उद्यत रहे, वही साधु है। अन्तरंगका मतलब अपने धर्ममें। अपनी आत्माको संसार-बन्धनसे छुड़ाकर साधन करनेवाला, अवलोकन करने-वाला जो अपने आप मार्ग निकाल ले वही साधु है।

जप-तप करनेसे, उपवास करनेसे, कपड़ा छोड़नेसे क्या हुआ, जब तक विषय भोग नहीं छोड़े। साधु को न पुण्य-कर्मसे मतलब, न पाप कर्मसे। जिसको पुण्य करनेकी जरूरत नहीं, पापकर्मकी जरूरत नहीं, वही साधु है।

जो संसारमें रहे, पर अन्तरंगमेंसे जितने शल्य निकाल दी। संसारमें रहता है, लेकिन उसमें लिप्त नहीं है. वीत-राग जिसके भीतर जाग रहा है, जिसके अन्दर वीतराग सम्यग्ज्ञान प्रकाशित हो चुका है, वह शल्य-रहित गुरु है।"

(१२-१२-५१ के प्रवचनसे)

सच्चा साधु कौन है ? जो आप अपने आत्म हितकी साधना करे और दूसरोंको साधना करनेकी कहे।

(१३-१२-५१ के प्रवचनसे)

## आत्म-हित श्रेष्ठ, या पर-हित ?

"आपके सामने दो वस्तुएँ हैं—(एक) अपना कल्याण करना, (दो) दूसरोंका कल्याण करना। अपना कल्याण करना ठीक है, या दूसरोंका कल्याण किया जाय ?×××

तुम्हारा तो परहितकी रक्षा करते-करते अनन्त काल बीत

गया। पहले आत्म-हित करो, फिर पर-हित करना चाहिए। आप सबने आत्म-हित छोड़ दिया है, सब पर-हित में मग्न हैं।"

"जब आपके पास है ही नहीं, तो आप दूसरेको क्या दे सकते हैं? पहले अपना हित करो। जब तुम्हारे पास कुछ होगा, तभी पर-हित कर सकते हो। यदि आपके पास पैसा है, धन है, तो दूसरेको दे सकते हो। अगर तुम्हारे पास कुछ है ही नहीं, तो दूसरेको क्या दोगे? पर-हित कैसे कर सकोगे? अतएव पहले अपना ऐश्वर्य पानेके लिये उद्यत रहो, प्रयत्न करो।"

## सच्चा मुनीम कौन?

आप लोग सेठ हैं। पर वस्तुकी रक्षा करनेके लिए यदि मुनीम रख दिया, उसने मार्ग देखा नहीं, चलेगा कैसे? मार्ग बताओ तो चलेगा। जैसा आपका मुनीम है, उसी तरह यह (अपनी ओर संकेत करते हुए) धर्मका मुनीम है। अधर्मको निकाल कर धर्मका मार्ग रखे, वह धर्मका मुनीम है। पर यदि वह तुम्हें अधर्म पर चलाए और कहे—पगार (आहार रूपी वेतन) लाओ तो वह मुनीम नहीं है। जो मुनिके समान अलिप्त रहे, अलिप्त रह कर ही सेठका काम करे, वही मुनीम है।

तुमने साधुको पगार दिया और उसने तुमको धर्म दिया। दातार हो तुम, मैं तुम्हारा नौकर हूँ, मुनीम हूँ। काम लो भैया, कर्मको निकालनेका और धर्मको धारण करनेका काम लो। नहीं तो—

'लोभी गुरु लालची चेला, दोनों नरकमें ठेलमठेला।'

अगर आप सच्चा मुनीम रखेंगे, तो आपकी नाव पार हो सकती है।

(१३।१२।५१ के प्रवचनसे)

## सब कुछ क्या?

संसारमें सब कुछ पा लिया, अब एक बाकी रह गया। वह चीज पाना है। जिसने अपने आत्मज्ञानको प्राप्त कर लिया, उसने सब कुछ पा लिया। चुम्बक लोहेको अपनी ओर खींचता है, सूर्य आग पैदा कर देता है। इसी तरह जीवनमें इतनी शक्ति होनी चाहिए, आत्मामें इतना ज्ञान होना चाहिये कि वह कर्मको फेंक दे और आत्म-शक्तिको खींच ले।

## शास्त्री और पण्डित कौन?

शास्त्रके बनाने वालेने कितनी युक्तियोंसे इस शास्त्रको बनाया और हम कहने लगे कि इसमें यह नहीं, इसमें वह नहीं है। यह ऐसा नहीं है, यह वैसा नहीं है। पहले उसका अध्ययन करके देखो—जीव क्या है, कर्म क्या है? कर्मको अलग करनेका क्या उपाय है? फिर सत्य और असत्यका विवेक करके कि यह हेय है, यह उपादेय है यह लेना है, यह छोड़ना है, ऐसा विचार करनेसे विवेक जागृत होगा। उस समय ही तुम शास्त्री कहलाओगे। उसीको शास्त्री कहते हैं, उसीको पण्डित कहते हैं।

(१४।१२।५१ के प्रवचनसे)

## कमाया बहुत, अब कुछ गमाना भी सीखो

बहिरात्मा पापकर्मको निर्भय होकर करता है। कल क्या होगा, कैसा होगा? यह नहीं सोचता और यह समझता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, ठीक ही कर रहा हूँ। धन मेरा है, धन मेरी रक्षा करता है; मैं भी उसकी रक्षा करूँ। इसी-में अनन्तकाल बीत गये मिथ्या भावमें। ××× अब आचार्य कहते हैं कि अनादिकाल बीत गये, पापकर्म नहीं छोड़े। अब भैया, थोड़े दिनके लिए अशुभ कर्मोंको छोड़ दो। यह स्थिर रहने वाला नहीं है। अगर स्थिर रहने वाला है तो करो। पर वह तो नाश होने वाला है। भैया, छोड़ दो उन्मार्गको, सन्मार्गको प्राप्त करो। खाना, कमाना यह सांसारिक मार्ग है। अब बहुत कमा लिया, कुछ गमाना भी सीख लो। गमाना क्या है? सुबह उठ कर जिनेन्द्र-का नाम लेना, पूजन करना, दान देना आदि। यही शुभ कर्म हैं। अब शुभ कर्मोंमें व्यवस्थित होओ। जब तक यह नहीं करोगे, तब तक अशुभ कर्म छूटते नहीं।

## साधुभाव क्या है?

इन पाप-पुण्योंसे संसारमें सुख-दुख ही मिलता है। पाप करनेसे दुख और पुण्य करनेसे सुख। इसलिए पाप और पुण्य दोनोंका ही बन्दीगृह-जेलखाने-से सरोकार है। दोनोंको ही जेलखानेमें रहना पड़ता है। साधु भाव यहां तक नहीं है। साधु भाव वहीं है, जो पापके समान पुण्यका भी त्याग कर दे। वही साधु है, वही मोक्ष है।

××× जब तक संसार है, साधुभाव नहीं, शुद्धभाव नहीं। इसलिए शुभ-अशुभ भावोंको तिलांजलि दे दो। शुद्धभाव ही आत्माको शुद्ध करनेका कारण है।

## शुद्ध या मुक्त होनेका मार्ग क्या है?

यह पाप-पुण्य अनन्तकालसे आत्माको दुःखमें डालने-

वाले हैं। अगर पाप-पुण्य दोनों छोड़ दिये, तो तीसरी शुद्ध चीज़ रह जायेगी अपनी आत्मा।

××× आप कहें कि हमारे अन्दर यह शक्ति नहीं कि पाप पुण्य दोनोंको छोड़ दें। कैसे छोड़ दें? इसके लिये अभ्यास करना होगा। पापोंको कम करनेके लिए पहले पुण्य करना पड़ेगा जब पाप दूर हो जाय, तो फिर धीरे-धीरे पुण्य भी छोड दो। इस तरह पाप-पुण्य दोनोंको छोड़ कर शुद्ध हो जाओगे, मुक्त हो जाओगे।

( १५।१२।५१ के प्रवचनसे )

## आ० नमिसागरका स्मारक क्या हो?

आचार्यश्रीका स्मारक क्या हो, इसका निर्णय आप लोग उनके प्रवचनको पढ़ कर ही कीजिये।

सन् १९५१ की बात है आ० नमिसागरजी और आ० सूर्यसागरजीका चतुर्मास दिल्लीमें हो रहा था और मैं उन दिनों ब्र० पूर्णसागरजीके पास था। धर्मपुराके नये मन्दिरमें उक्त आचार्यद्वयके भाषणके कभी पहले और कभी पीछे मेरे भी भाषण लगातार हो रहे थे। एक दिनकी बात है दैनिक पत्रोंमें यह समाचार आया कि दक्षिणके अमुक प्रान्तमें कम्यूनिष्टोंने अमुक उपद्रव कर दिया है और अमुक धर्म-संस्थानकी सम्पत्ति लूट ली है। आ० नमिसागरजी कभी-कभी हिन्दीका दैनिक पत्र देखा करते थे। उक्त समाचारको पढ़ कर उनके मानस पर बहुत आघात सा पहुँचा और वे प्रवचन करते हुए अत्यन्त द्रवित होकर भावावेशमें कहने लगे—'अय दिल्ली वाले जैनियो तुम कहाँ जा रहे हो? क्या कर रहे हो?' मैं सुन करके चौंका—आज महाराज क्या कह रहे हैं कनड़ी भाषी होनेके कारण वे शुद्ध हिन्दीमें अपना भाव व्यक्त नहीं कर पाते थे और साधारण जनता को, या मुझे भी प्रायः उनकी बोली सहसा समझमें नहीं आती थी। अतएव मैं अत्यन्त सावधान होकर उनका भाषण सुनने लगा। महाराज लोगोंको उत्सुक वदन देख कर बोले 'क्या समझे? और फिर अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहने लगे—अरे, वीतरागको सराग बना कर तुम लोग कहां जा रहे हो? स्वर्गमें या नर्कमें? जानते हो—वीतरागको सराग बनानेमें कौन सा पाप होता है !!! बताऊँ? सुनो—मिथ्यात्व पाप होता है। तुम लोग वीतरागके मन्दिरमें सरागी देवी-देवताओंकी स्थापना कर उनकी पूजा-भक्ति करने लगे हो? यह सब क्या है? मिथ्यात्व है। इनके पूजनेसे तुम्हारा कल्याण हो जायगा? कभी नहीं। ये देवी-देवता तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न भी हो जायँ, तो क्या देंगे? वही जो उनके पास है। समझे? वही संसारमें डुबाने वाली भोग-सम्पदा देंगे। जिसमें मगन हो करके तुम फिर संसार समुद्रमें डूबोगे और फिर चतुर्गतिमें परिभ्रमण कर अनन्तकाल तक दुःख उठाते फिरोगे !!! तो फिर क्या करना चाहिये? पद्मावती चक्रेश्वरी आदि सरागी देवोंकी पूजा भक्ति छोड़ कर एकमात्र वीतराग देवकी ही पूजा भक्ति करना चाहिये। इसीसे तुम्हारे भीतर वीतरागता जागेगी और फिर तुम भी एक दिन वीतराग बन कर जगत् पूज्य बन जाओगे। बोलो जगत्-पूजक बने रहना अच्छा है, या जगत्पूज्य बनना?

लोग एक स्वरसे बोल उठे—'बोलो आ० नमिसागर महाराजकी जय।'

आचार्य महाराजने अपना भाषण जारी रखते हुये कहा अरे, तुम लोगोंने वीतरागको सराग बनानेके लिए चँवर-छत्रको ही सोने-चांदीका नहीं बनाया, किन्तु स्वयं वीतराग-को ही सोने-चांदीका बना डाला। भगवान् क्या सोने-चांदीके थे? नहीं, उनका भी पार्थिव शरीर उन्हीं पुद्गल-परमाणु-ओंसे बना था, जिससे कि तुम्हारा-हमारा। भगवान् सोने-चांदीके नहीं थे—उनके शरीरका रंग सोने-चांदी जैसा था। और देखो, तुम कहोगे कि हमने तो भक्तिमें आकर सैकड़ों हज़ारों रुपये लगा कर जो ये चांदी-सोनेके भगवान् बनाये हैं, सो कोई चुरा न ले जाय, इसके लिए तुम लोगोंने इन्हें तालोंमें बन्द कर दिया, तिजोड़ियोंमें बन्द कर दिया। जानते हो? यह कितना बड़ा पाप है? कौन सा पाप है? अरे, भगवान्को तालोंमें बन्द करनेसे दर्शनावरणीय कर्म बन्धता है—दर्शनावरणीय कर्म। जिसके कारण तुम्हें कभी आत्म-दर्शन नहीं हो सकेगा। जानते हो, पुराने कालमें मन्दिरों पर ताले नहीं लगा करते थे। हमारे दक्षिणमें आजभी अनेकों मन्दिरों पर ताले नहीं लगते हैं किवाड़ नहीं लगते हैं, कि जिससे सब कोई सब काल उनका निर्बाध दर्शन कर सके। मन्दिरों पर ताले लगानेसे भक्तको दर्शन करनेमें अन्तराय होता है और उससे ताला लगाने वालेके भारी पाप बन्ध होता है। तुम कहोगे—महाराज, हम तो किसीको दर्शनसे रोकनेके लिए ताला नहीं लगाते हैं। हम तो देव और देवद्रव्य-की रक्षा करनेके लिये ताला लगाते हैं। तो क्या ऐसा कहनेसे तुम पापसे बच जाओगे? अरे तुम्हारे भाव चाहे कुछ हों, पर क्रिया जो उलटी कर रहे हो, दूसरोंके दर्शनमें अन्तराय बनते

हो, उससे तो पापका बन्ध होगा ही। जानते हो, तत्त्वार्थ-सूत्रमें क्या कहा है ? चाहे ज्ञातभावसे किया करो और चाहे अज्ञातभावसे करो, पर पापका बन्ध तो होगा ही। मैं यह विषपान कर रहा हूँ ऐसा जान करके चाहे विष पियो और चाहे अनजाने विषको पीलो, पर जानते हो दोनोंका क्या फल होगा ? दोनों ही मरेंगे।

अपना भाषण जारी रखते हुए आचार्य महाराज बोले—तुम लोग अखबार पढ़ते हो, मालूम है, क्या समाचार आते हैं ? आज अमुक स्थानकी मूर्ति चोरी चली गई, आज अमुक स्थानके मन्दिरसे सोनेका छत्र-चंवर चोरी चला गया, आदि। यदि लोग भगवान्को सोने चांदीका न बनवाते, सोने-चांदीके छत्र-चंवर न चढ़ाते, तो कोई चुरा ही क्या ले जाता ? पहले सब जगह पाषाणकी ही मूर्तियां बनती थीं, और उसीमें छत्र चँवर भामंडल आदि उकेरे रहते थे, तब कहीं चोरी होनेकी बात नहीं सुनी जाती थी। कोई चुराने ही आता, तो क्या चुरा ले जाता ? पर आज तो उल्टी गंगा बह रही है और लोग धर्मका विकृत रूप करते जारहे हैं। मन्दिरोंको भी अब सोने-चांदीसे सजाते जारहे हैं। मैं कहता हूँ, मेरी बात दिल्लीवाले लिखकर रख लें। सारे भारतमें कम्यूनिष्ट फैलते जारहे हैं, और वे बहुत जल्दी मन्दिरोंको लूट लेंगे और उनके आनेसे पहले सरकार ही ऐसी कानूनी बनाती जा रही है कि जिससे सब मन्दिरोंका धन सरकारके पास चला जायगा। इसलिए हे दिल्लीवाले जैनियो, मेरी बात मानो—मन्दिरोंमें जितना सोना-चांदी है, उनके उपकरण हैं, उन्हें बेचकर सब रुपया इकट्ठा करो और जो तुम्हारी समाजमें गरीब हैं, पूँजीके लिए जिनके पास पैसा नहीं है, उनको उनकी आवश्यकता और स्थितिके अनुसार पूँजीके रूपमें उस रुपये को बांट दो और ब्याजमें उनसे प्रातः-सायंकाल देव-दर्शनकी तथा दिनमें न्याय-पूर्वक व्यापार करनेकी प्रतिज्ञा ग्रहण कराओ। फिर देखोगे कि जब लोगोंको यह मालूम हो जायगा कि जैनियोंने अपने मन्दिरोंका देवद्रव्य गरीबोंको बांट दिया है तब प्रथम तो तुम्हारे मन्दिरों पर कोई आक्रमण ही नहीं करेगा। और यदि इतने पर भी लोग आक्रमण करें और लूटमारको आवेंगे, तो जिन लोगोंको पूँजी देकर उनकी आजीविका स्थिर की है, वे ही लोग मन्दिरोंकी रक्षाके लिए तन-मन-धनसे लग जावेंगे और उनकी रक्षामें अपनी जानोंकी बाजी लगा देंगे। दिल्लीवालो, मेरा कहा मानो, सब लोग मिलकर एक पंचायत बनाओ, सारे मन्दिरोंके द्रव्यको एकत्रित करो और पूँजीके बिना आजीविका-हीन तथा* पाकिस्तानसे आनेके कारण आश्रय-विहीन गरीब जैनोंकी सहायता करो, उनका स्थितिकरण करो और उन्हें सुखी बनाओ। 'न धर्मो धार्मिकैः विना' और 'धर्मो रक्षति रक्षितः'के सूत्रोंका मनन करो, तब तुम्हें पता लगेगा, कि तुम्हारा आज क्या कर्तव्य है ?

उस चातुर्मासमें प्रायः प्रतिदिन आचार्य महाराजने अपने उपदेशोंके द्वारा प्रत्येक जैनको संबोधन कर-करके उन्हें उनके कर्तव्यों का ज्ञान कराया।

जिस समय महाराज उक्त प्रवचन कर रहे थे उस समय महाराजके नेत्रोंसे आंसू टपाटप गिर रहे थे, और वे अत्यन्त गद्गद स्वरसे अपना उपदेश दे रहे थे। उनके प्रवचनके बाद मैंने महाराजके शब्दोंका खुलासा करते हुए कहा था, कि यदि आचार्यश्रीके सिवाय किसी अन्य गृहस्थ पंडितके मुखसे उक्त शब्द निकले होते, तो पता नहीं, श्रोता लोग उसकी कैसी दुर्गति करते। पर शाबास है उन सब श्रोताओंको, जो इतने दिनके बाद भी उसके कानों पर जूं तक न रेंगी। और इसका आभास ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण मिला हमें लालमन्दिरमें हुई उस दिनकी ( २४-१०-५६ की ) शोक-सभामें, जब लोग आचार्य महाराजके स्वर्गारोहणके उपलक्ष्यमें उन्हें अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलियां भेंट कर रहे थे। एक भाईने अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करते हुए कहा कि मेरी आप लोगोंसे प्रार्थना है कि आचार्य महाराजकी स्मृतिको स्थायी रखनेके लिये एक फण्ड कायम किया जाए और उसके द्वारा गरीब जैन बन्धुओंको पूँजी देकर उनकी आजीविकामें सहायता दी जाय। उक्त सज्जनके महाराजके प्रवचनकी पुनरावृत्ति रूप इस सुझावको सुनकर भी सारी दिल्लीके उपस्थित पंचों और मुखियोंने इस सामयिक सुझावको यों ही उड़ा दिया और वक्ताओंको २-२ मिनटका समय देकर सभाकी कार्यवाही समाप्त कर दी गई।

इस सम्बन्धमें मैं दिल्लीके ही नहीं, अपितु सारी

---

* देश-विभाजनके बाद शरणार्थियोंकी समस्या उन दिनों भयंकर रूप धारण कर रही थी और पाकिस्तानसे आए हुए जैन बेघरबार और बेरोजगार होकर मारे-मारे फिर रहे थे, अतः उनको लक्ष्यमें रखकर आचार्यश्रीने यह अत्यन्त सामयिक, मौलिक और जैनियों पर भविष्यमें आनेवाले संकटोंसे उनकी रक्षा करनेवाला उपदेश दिया था।

समाजके कर्णधारोंसे यह नम्र निवेदन कर देना चाहता हूँ कि उक्त सज्जनका सुझाव आचार्यश्रीके प्रवचनके अनुरूप हो नहीं, प्रतिध्वनि रूप है। यदि सारे भारतके जैनियोंने आचार्यश्रीके स्वर्गवास पर श्रद्धाके फूल चढ़ाकर सचमुचमें शोक-सभाएँ की हैं और वास्तवमें वे महाराजकी स्मृतिको कायम रखना चाहते हैं, तो उन्हें स्वयं महाराजके द्वारा दिये गये सुझावको यदि वे उनके जीवनमें अमली रूप नहीं दे सके हैं, तो कम-से-कम अब तो उनके स्वर्गवासके बाद ही सही, अमली जामा पहिना करके उनकी आन्तरिक भावनाको मूर्तमान रूप देकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। महाराजकी आत्मा स्वर्गसे यह देखकर अत्यन्त शान्तिका अनुभव करेगी कि मेरे भक्त मेरे जीते जी तो नहीं चेते तो, चलो अब मेरे चले जानेके बाद उनका ध्यान मेरी मेरी बातों पर गया है और वे उसे पूरा करनेके लिए कृत-संकल्प हुए हैं। महाराजकी स्वर्गस्थ आत्मा वहींसे तुम्हें आशीर्वाद देगी कि तुम सबका कल्याण हो।